



Original Article

समकालीन आदिवासी हिंदी कविता में चित्रित बेरोजगारी की समस्याएँ

प्रा. हिरामण देवराम टोंगारे

सहाय्यक प्राध्यापक

डॉ. पतंगराव कदम आर्ट्स आणि कॉमर्स कॉलेज, पेण जि रायगड,

Manuscript ID:

IJAAR-C130313

ISSN: 2347-7075

Impact Factor – 8.141

Volume - 13

Issue - 3

January – February 2026

Pp. 60 - 64

Submitted: 19 Jan.2026

Revised: 23 Jan. 2026

Accepted: 10 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

Corresponding Author:

प्रा. हिरामण देवराम टोंगारे

Quick Response Code:



Website: <https://ijaar.co.in/>



DOI: 10.5281/zenodo.22785365

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.22785365>



Creative Commons



सार:

समकालीन हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श एक सशक्त स्वर के रूप में उभरा है, जो केवल सांस्कृतिक अस्मिता का नहीं बल्कि शोषण और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध का भी दस्तावेज है। विशेष रूप से समकालीन आदिवासी हिंदी कविता में बेरोजगारी की समस्या केंद्रीय विषय के रूप में सामने आती है। यह बेरोजगारी मात्र आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि आत्मसम्मान, सांस्कृतिक पहचान और अस्तित्व से जुड़ा प्रश्न है। निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, महादेव टोप्पो और हरिराम मीणा जैसे कवियों की रचनाओं में बेरोजगारी सामूहिक पीड़ा के रूप में व्यक्त होती है। उनकी कविताओं में विस्थापन, अस्थायी मजदूरी, पलायन और शहरी शोषण की स्थितियाँ मार्मिक ढंग से उभरती हैं। बेरोजगार आदिवासी युवा अपनी जड़ों से कटकर शहरों में सस्ते श्रमिक के रूप में शोषित होता है, जिससे उसके आत्मगौरव और सामाजिक पहचान पर गहरा आघात पड़ता है।

इन कविताओं में बेरोजगारी का चित्रण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों स्तरों पर मिलता है। स्थानीय भाषा, प्रतीक और प्रकृति-बिंबों के माध्यम से कवि जंगल के उजड़ने और नदियों के सूखने को आजीविका के विनाश के रूपक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, इन रचनाओं में प्रतिरोध, संघर्ष और परिवर्तन की चेतना भी दिखाई देती है। इस प्रकार समकालीन आदिवासी हिंदी कविता बेरोजगारी को बहुआयामी संकट के रूप में प्रस्तुत करती है, जो केवल रोजगार की कमी नहीं, बल्कि अस्तित्व, अस्मिता और सामाजिक न्याय के प्रश्नों से गहराई से जुड़ा हुआ है।

मुख्य शब्द: आदिवासी विमर्श, बेरोजगारी, विस्थापन, जल, जंगल, जमीन, अस्मिता, सामाजिक न्याय, आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक पहचान, प्रतिरोध

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

How to cite this article:

प्रा. हिरामण देवराम टोंगारे. (2026). समकालीन आदिवासी हिंदी कविता में चित्रित बेरोजगारी की समस्याएँ. *International Journal of Advance and Applied Research*, 13(3), 60 - 64. <https://doi.org/10.5281/zenodo.22785365>

प्रस्तावना:

भारत की प्राचीनतम जनजातीय समुदायों को इतिहास की लंबी परंपरा से जोड़ा जाता है। हमारे देश में इस समुदाय को आदिवासी, वनवासी, गिरिजन और कभीकभी जंगली जैसे - विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है। वर्तमान समय में भी

विकास और आधुनिक सभ्यता की प्रतिस्पर्धा में यह समुदाय अपेक्षाकृत पीछे दिखाई देता है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6 प्रतिशत हिस्सा आदिवासी समुदाय से संबंधित है, जिनमें से अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं। भारतीय सामाजिक



संरचना में आदिवासियों को लंबे समय तक सर्वाधिक शोषित और वंचित वर्ग के रूप में देखा गया है। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सरकार ने इनके सामाजिक-आर्थिक उत्थान के लिए - अनेक योजनाएँ और नीतियाँ लागू की हैं, फिर भी यह समुदाय आज भी मुख्यधारा के विकास से पर्याप्त दूरी पर दिखाई देता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श एक सशक्त और स्वतंत्र आवाज के रूप में उभरा है। यह विमर्श केवल सांस्कृतिक अस्मिता, परंपरा और प्रकृति-सम्बद्ध जीवन की अभिव्यक्ति भर नहीं है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का भी दस्तावेज है। विशेषतः समकालीन आदिवासी हिंदी कविता ने आदिवासी जीवन की जमीनी सच्चाइयों को जिस तीव्रता और संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है, वह उल्लेखनीय है। इन सच्चाइयों में बेरोजगारी की समस्या एक केंद्रीय विषय के रूप में उभरती है। बेरोजगारी केवल आर्थिक अभाव का प्रश्न नहीं, बल्कि अस्मिता, आत्मसम्मान, सांस्कृतिक निरंतरता और अस्तित्व से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

विस्थापन के कारण आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक संसाधनों-जल, जंगल और जमीन से वंचित हो जाता है, जो उनकी आजीविका का मुख्य आधार थे। जब खनन, बांध, औद्योगिक परियोजनाएँ या विकास योजनाएँ उनके क्षेत्रों में लागू होती हैं, तो उन्हें अपनी भूमि छोड़ने के लिए बाध्य किया जाता है। भूमि और वनअधिकार छिन जाने से खेती, वनउपज और हस्तशिल्प जैसे रोजगार के साधन समाप्त हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वे बेरोजगारी या अस्थायी मजदूरी की ओर धकेल दिए जाते हैं। शहरों में पलायन करने पर भी उन्हें स्थायी काम नहीं मिलता, जिससे भोजन, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से वे दूर होते चले

जाते हैं। इस कटु यथार्थ को कवयित्री निर्मला पुतुल कविता के द्वारा अपना दर्द व्यक्त करती हैं-

“अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल-कारखाने बनाना हैं
तालाबों को भोथकर राजमार्ग
जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियाँ बसानी हैं
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए पर धकेलना हैं।”¹

आदिवासी कवियों की रचनाओं में बेरोजगारी केवल व्यक्तिगत पीड़ा नहीं, बल्कि सामूहिक त्रासदी के रूप में चित्रित होती है। इन कविताओं में बेरोजगार आदिवासी युवा शहरों की चकाचौंध में खोता हुआ दिखाई देता है, जहाँ वह श्रम बाजार में सस्ते मजदूर के रूप में शोषित होता है। गाँव की हरियाली और सामुदायिक आत्मीयता से दूर, वह असुरक्षा, अपमान और अस्थिरता का जीवन जीने को विवश होता है। कविता में यह स्थिति केवल सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं, बल्कि व्यवस्था की आलोचना भी है। आदिवासी समाज के परंपरागत व्यवसाय तो व्यवस्था ने छीन ही लिए हैं। परंपरागत रोजगार खत्म होने के कारण आदिवासी समाज रोजगार की खोज में शहरों की ओर भाग रहा है। इस बात को कवि अनुज लुगुन ने ‘पचपन बरस की मजदूरी’ नामक कविता के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। कविता में अनुज लुगुन लिखते हैं-

“लेकिन वे गये मजदूरी के लिए
हजारों मील दूर चेहरे की झुर्रियों को ढोते हुए
उनकी पत्नियों ने अपने आंचल में फिर से उम्मीद को बांधा
उन्होंने अपने बच्चों को भी साथ जाने दिया / यह पेट का युद्ध है
और इसमें कोई अकेले नहीं रह सकता है
गाँव खाली हो चूका है, किसान नहीं हैं गाँव में
वे मजदूर हो गये हैं शहर में।”²



इन कविताओं की भाषा में स्थानीयता और जनपदीयता का विशेष महत्व है। आदिवासी कवि अपनी बोली, प्रतीकों और मिथकों के माध्यम से बेरोजगारी की त्रासदी को व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, जंगल का उजड़ना केवल पर्यावरणीय संकट नहीं, बल्कि रोजगार के अवसरों के विनाश का प्रतीक बन जाता है। नदी का सूखना जीवन और आजीविका के स्रोत के समाप्त होने का बिंब है। इस प्रकार प्रकृति और बेरोजगारी का संबंध कविता में प्रतीकात्मक ढंग से उभरता है। आर्थिक अभावों के कारण आदिवासी मजदूरी करने के लिए कहीं भी जा रहे हैं। आज के दौर में 'आदिवासी मजदूर' ज्यादा संख्या में बनने लगे हैं। हरिराम मीणा 'सड़क-मजूरों को देखकर' कविता में मजदूरों के संघर्ष को व्यक्त करते हैं-

“बहुत रियाज के बाद / आखिर हो ही गए थे माहिर

सड़क बनाने में / चूहों की तरह परात ढोते

अजगरों की तरह मिट्टी दाबते।”³

जैसे ही आदिवासी वर्ग जल, जंगल, जमीन से बेदखल हुआ उसके रोजगार के साधन उससे दूर चले गए। मजदूरी करने के लिए शहर जाना पड़ा। वहाँ भी उसका शोषण हो रहा है। यानी की आदिवासियों की समस्या दिन-बी-दिन बढ़ती ही जा रही है। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्रियों के बारे में कहती हैं कि, वो भी अपना अस्तित्व सिद्ध करने तथा शहर में काम करने के लिए आती है। शहर की चकाचौंध में वह खो जाती हैं। वापस लौटना उनके लिए मुश्किल बन जाता है। अपनी बस्ती से गायब लड़कियों की तलाश उनके जीवन की विडंबना को आवाज देती हुई वह उन्हें शहरों में ढूँढ़ रही है। 'तुम कहाँ हो माया' कविता में वह कहती हैं-

“दिल्ली के किस कोने में हो तुम?/ मयूर विहार, पंजाबी बाग या शाहदरा में

सेल्सगर्ल हो / या किसी हर्बल कंपनी में पैकर ? / वसंत विहार की किसी मार्केट में कर रही हो

किसी एस.टी.डी बूथ की ऑपरेटरी.../कहीं हो भी सही

सलामत या / दिल्ली निगल गई तुम्हें?”⁴

प्रस्तुत काव्य पंक्तियाँ आदिवासी लड़कियाँ जो शहर में गुम हो जाने या किसी अनहोनी का शिकार होने के डर को दर्शाती हैं। आदिवासी लड़कियों की संभावित कामकाजी स्थितियों का अनुमान और एक बड़े शहर में उसका होनेवाले शोषण के खिलाफ तथा उसके कल्याण के लिए गहरी चिंता व्यक्त करती है। साथ ही आदिवासी समाज का आर्थिक शोषण सदियों से होता आया दिखाई देता है। यह समस्या सिर्फ आदिवासी समाज की लड़कियों के बारे में ही बात नहीं करती बल्कि, समकालीन परिस्थिति में आदिवासियों की आर्थिक दशा भी चित्रित करती है।

समकालीन आदिवासी कविता में बेरोजगारी के साथ-साथ पलायन का चित्रण भी मिलता है। गाँव से शहर की ओर जाने वाला युवा केवल श्रमिक नहीं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटता हुआ व्यक्ति है। शहर में उसे अस्थायी काम, कम मजदूरी और असुरक्षित जीवन मिलता है। कई कविताएँ यह दिखाती हैं कि बेरोजगारी व्यक्ति की आत्मगौरव की भावना को चोट पहुँचाती है। वह अपने समाज में भी असहज हो जाता है और मुख्यधारा समाज में भी उसे स्वीकार्यता नहीं मिलती। यह दोहरी परिधीयता कविता की मार्मिक संवेदना बन जाती है। आदिवासी समाज की बदतर आर्थिक हालात उन्हें शहरों की ओर पलायन करने के लिए विवश कर रही है। आर्थिक आभाव और अपने परंपरागत रोजी-रोटी के साधनों पर सभ्य समाज ने कब्जा करने के कारण अब वह मेहनत-मजदूरी करने को तैयार हो रहा है। आदिवासी समाज आज मुख्यधारा के लोगों की सेवा के लिए मजदूर बनने



लगे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में ‘ढेपचा के बाबू’ कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं-

“ढेपचा के बाबू / तुम तो सब कुछ छोड़-छाड़
चले गए कमाने कश्मीर / भाग गया ढेपचा भी
अपने साथियों के साथ असम।”⁵

कवयित्री निर्मला पुतुल रोजगार पर टिप्पणी करते हुए कहती है कि, सरकार रोजगार के नाम पर सिर्फ योजनाएं दिखाती है पर वास्तव में योजनाएं सिर्फ कागजों पर ही रह जाती है और आदिवासी बेरोजगार के बेरोजगार ही रह जाते हैं। ‘एक सार्थक चीख के पहले की गहराती चुप्पी’ कविता में वह लिखती है-

“रोजगार गारंटी योजना के तहत / हमें जॉब कार्ड मिला
पर काम नहीं मिल रहा है / हम चुप हैं।”⁶

आदिवासी समाज को दिन-ब-दिन जल, जमीन और जंगलों से बाहर खदेड़ा जा रहा है। उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का मूल्य नगण्य है लेकिन उन वस्तुओं के उपर पूंजीवादी लोग मुनाफा ले रहे हैं। यही वास्तविकता निर्मला पुतुल अपनी कविता में अभिव्यक्त करते हुए लिखती हैं-

“बार-बार हमारी ही जमीन की / हमारे हाथों बनी चीजें
हमारे ही बीच बेचेंगे नाममात्र / रियायती दरों पर
उन्हें पता है इस दौर में उत्पादन और / बाजार का नया गणित
यह भी सच है कि वे जानते हैं यहाँ का पूरा इतिहास और
भूगोल व्यवस्था का गणित और मन का विज्ञान।”⁷

आदिवासी समाज के शोषण को निर्मला पुतुल ने नजदीकी से देखा है और अनुभूत भी किया है। यह उनकी अनुभूति है। गरीबी और विस्थापन जैसी समस्या आदिवासी समाज की प्रमुख समस्याएं हैं। जिन समस्याओं के चलते उनका जीवन चुनौतियों से भरा हुआ है। व्यवस्था द्वारा होनेवाला शोषण पीढ़ी-दर-पीढ़ी आज भी हो रहा है। और

बेरोजगारी चरम सीमा पर पहुँची है इस शोषण को चुनौती देने का आवाहन आदिवासी समाज को करते हुए पुतुल जी कहती हैं-

“दिन-रात मेहनत-मजूरी कर जैसे-तैसे / गुजर-बसर करते कभी
सोचा है तुमने

कि आखिर कब तक तुम भी वैसे/ क्यों जीते रहे / जीते रहे
तुम्हारे बाप-दादा

जिनगी भर ? / आज जबकि दुनिया इतनी तेजी बदल रही है
तुम लकीर के फ़क़ीर क्यों बने हो / बुधन हांसदा?”⁸

प्रस्तुत काव्यपंक्तियाँ समकालीन आदिवासी कविता में बेरोजगारी के विरुद्ध प्रतिरोध और आशा के स्वर भी मिलते हैं। कवि केवल दुख और पीड़ा का चित्रण नहीं करते, बल्कि संघर्ष की चेतना भी जगाते हैं। वे शिक्षा, अधिकार और संगठन के माध्यम से बदलाव की संभावना तलाशते हैं। इस प्रकार कविता सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा बन जाती है।

निष्कर्ष:

समकालीन आदिवासी हिंदी कविता में बेरोजगारी की समस्या एक व्यापक और बहुआयामी संकट के रूप में उभरती है। यह केवल रोजगार की कमी का प्रश्न नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संघर्ष का द्योतक है। जल, जंगल और जमीन से विस्थापन ने आदिवासी समुदाय की पारंपरिक आजीविका को छीन लिया, जिसके परिणामस्वरूप युवाओं को बेरोजगारी, अस्थायी मजदूरी और पलायन जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ा। कविता इन यथार्थों को संवेदनात्मक और प्रतिरोधात्मक स्वर में अभिव्यक्त करती है।

समकालीन आदिवासी कवियों की रचनाओं में बेरोजगारी के कारण उत्पन्न आत्महीनता, असुरक्षा और सांस्कृतिक विच्छेदन की पीड़ा स्पष्ट दिखाई देती है। साथ ही वे



विकास की नीतियों पर प्रश्न उठाते हुए सामाजिक न्याय और समान अवसरों की मांग भी करते हैं। इन कविताओं में प्रकृति-बिंबों और स्थानीय भाषा के माध्यम से आजीविका के संकट को प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है।

अतः यह स्पष्ट है कि समकालीन आदिवासी हिंदी कविता में बेरोजगारी की समस्या बहुआयामी रूप में प्रस्तुत होती है। यह केवल आर्थिक संकट का वर्णन नहीं, बल्कि अस्तित्व, अस्मिता और अधिकारों के संघर्ष की कथा है। प्रस्तावित शोध में इन आयामों का विश्लेषण करते हुए यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि किस प्रकार आदिवासी कवि बेरोजगारी को सामाजिक यथार्थ और प्रतिरोध के औजार के रूप में रूपायित करते हैं।

संदर्भ:

1. पुतुल निर्मला, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 40
2. लुगुन अनुज, पत्थलगड़ी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2021, पृ. 26
3. मीणा हरिराम, सुबह के इंतजार में, शिल्पायन प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण 2006. पृ. 66
4. डॉ. मुकेश कुमार, संपा. काव्य संचयन : निर्मला पुतुल, कलमकार पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023 पृ. 69
5. पुतुल निर्मला, नगाड़े की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. 40
6. पुतुल निर्मला, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2014, पृ. 53
7. डॉ. मुकेश कुमार; संपा. काव्य संचयन : निर्मला पुतुल, कलमकार पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023, पृ. 12
8. वहीं, पृ. 11